

## वन नीति का मसविदा – वनों के संरक्षण के बजाय कब्जा करने के लिये बनता रास्ता

—वीरेन लोबो

(www.headlineeveryday.com में 4 अप्रैल, 2018 को प्रकाशित)

वन नीति 2018 का मसविदा धोखा देने के लिये खुशामद करने के समान है। यह स्वीकार करते हुए कि वन नीति 1988 और एक पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण की आवश्यकता के सन्दर्भ में दिए गए इनपुट के द्वारा संरक्षण को बढ़ावा देने के परिणामस्वरूप वन आवरण में वृद्धि हुई है, वन नीति 2018 का मसविदा उस दत्त-सामग्री (डाटा) एवं विश्लेषण को बाकायदा दरकिनार कर देता है जिसकी सहायता से यह परिणाम प्राप्त किये गये हैं। इसके साथ ही, यह मसविदा वन के ऊपर उन सभी खतरों को भी नज़रअन्दाज़ कर देता है जो कि कॉर्पोरेट को विकास के नाम पर एवं एक शुल्क (एन.पी.वी.) जमा कराकर वन भूमि को अधिग्रहीत और बर्बाद करने के बेलगाम आमन्त्रण से उत्पन्न हुए हैं। यह नागरिक समाज के योगदान को स्वीकार तो करता है लेकिन यह नहीं बताता कि क्यों एक 'सुविचारित मसविदा' चुपचाप किनारे कर दिया गया; यह वन भूमि के उत्तम हिस्से को थाली में रखकर उद्योग जगत को परोस देने की मंशा को उजागर करता है।

पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि प्राकृतिक संसाधनों में केवल उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के अलावा भी बहुत कुछ है; ऐसा मानने वालों में वह तबका भी शामिल है जो व्यापक अर्थों में अर्थव्यवस्था को मापने के लिये सकल घरेलु उत्पाद (जी.डी.पी.) की पद्धति पर और विशेष रूप से इस मामले में उत्पादकता को पैमाना मानने पर सवालिया निशान लगाता है। विभिन्न क्षेत्रों में हुए शोध विकास के इस एकांगी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप हुई बर्बादी और गड़बड़झाले की ओर इशारा करते हैं। जहाँ अंग्रेजों ने व्यावसायिक नज़रिये से बलूत के पेड़ के स्थान पर देवदार, साल के स्थान पर सागवान लगवाने व बाँसों की खेती के लिये वनों का नाश करने जैसे कदम उठाये, वहीं यूक्लिप्टस, प्रोसोपिस, आकाशवाणी (अकेशिया ऑरिक्व्यूलिफॉर्मिस) व अन्य प्रजातियों द्वारा फैलाया गया विनाश भी सबके सामने है। केवल व्यावसायिक/उत्पादकता में वृद्धि के दृष्टिकोण से बाकी सबकुछ को दरकिनार कर किए गए ये पौधरोपण पारिस्थितिकी और टिकाऊपन में बढ़ती रुचि का प्रमुख कारण रहे हैं।

अतः, यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि पर्यावरण-संरक्षण और मानवाधिकार दोनों के लिये काम करने वालों ने वन नीति के इस मसविदे की सख्त आलोचना की है; दोनों के कारण अलग-अलग होने के बावजूद वे एक सामान्य सूत्र में बन्धे हैं। यह सूत्र, मूलतः, वन को वन की तरह स्वीकार करना है ना कि उद्योग जगत के लिये एक दुधारू गाय मानना, चाहे उसे किसी भी रूप में प्रस्तुत क्यों ना किया जाए। सर्वोच्च न्यायालय ने 2008 में इस चिन्ता की तस्दीक की थी और कहा था कि जब तक वनों के विनाश से जुड़ी प्रणालीगत चिन्ताओं से निपटने के लिये एक व्यापक दृष्टिकोण तैयार नहीं हो जाता है तब तक 'कैम्पा' (कम्पन्सेट्री एफॉरेस्टेशन फण्ड मैनेजमेंट एण्ड प्लानिंग अथॉरिटी – क्षतिपूरक वनरोपण कोष प्रबन्धन और नियोजन प्राधिकरण) की राशि को अलग रखा जाए। किन्तु ऐसा करने के बजाय, 2016 में, सरकार ने सी.ए.एफ. (कम्पन्सेट्री एफॉरेस्टेशन फण्ड) एक्ट पारित कर दिया जिसका कथित विचार तो खर्च नहीं हुई राशि का उपयोग करना था, किन्तु वास्तविकता में इसका उद्देश्य उन कारणों से बचकर निकल जाना था जिनकी वजह से यह राशि खर्च नहीं की जा रही थी, और साथ ही वनों पर सरकार एवं वन विभाग के आधिपत्य को बढ़ाना था।

यह सवाल उठना लाज़मी है कि सरकार अपने रुख से पलट क्यों रही है जबकि वह संरक्षण की आवश्यकता (वन्य जीव संरक्षण अधिनियम 1972, वन संरक्षण अधिनियम 1980) और इस संसाधन पर

किसी-न-किसी रूप में निर्भर समुदायों की भूमिका एवं उनके साथ साझा प्रयास की ज़रूरत (वन नीति 1988, पेसा 1996, जैव विविधता अधिनियम 2002, वन अधिकार अधिनियम 2006) को उत्तरोत्तर स्वीकार करती रही है। सरकार के दृष्टिकोण में इस पलटाव के कारण को जानना दुष्कर नहीं है— एक ओर संरक्षण एवं हरितिमा से सम्बन्धित अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों व घोषणाओं का हिस्सा बनना और दूसरी ओर इन संसाधनों का इच्छानुसार दोहन करने के लिये कम्पनियों को बेलगाम अवसर देना! अब तो खुलासा हो चुका है कि चतुराई से लिखा गया यह दस्तावेज़ संरक्षण और सामुदायिक भागीदारी की आड़ में, दरअसल, वनों को उद्योग जगत् को सौंपने का खाका है।

यहाँ जोर देने की आवश्यकता इस बात पर है कि हमारा ध्यान वन अधिकार अधिनियम के सार—तत्व से नहीं हटना चाहिये जो कि अधिनियम की प्रस्तावना में स्पष्ट है, और वह है — वन में निवास करने वाले एवं वन पर निर्भर समुदायों के साथ हुए ऐतिहासिक अन्याय को सही करना। यह अन्याय अधिकार (चाहे वे व्यक्तियों को हो या समुदाय को) प्रदान करने मात्र से सम्बन्धित नहीं है। इस अन्याय का सम्बन्ध वन पर केन्द्रित सम्पूर्ण जीवन शैली को बाकायदा नष्ट करने के साथ ही टिकाऊ व सम्मानजनक आजीविका के अर्जन की आवश्यकता से जुड़े सामयिक प्रश्नों का समाधान करने की क्षमता (आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक, विशेषकर नवीनीकृत ऊर्जा) तथा 'वैश्विक संसाधन' के रूप में वन संरक्षण को नज़रअंदाज़ करने से है।

इन्स्टीट्यूट ऑफ़ इकोलॉजी एण्ड लाइवलीहुड एक्शन (IELA), जो कि पारिस्थितिकी पर नागरिक समाज का एक समूह है, 'टिकाऊ विकास के लिये सार्वलौकिक संसाधनों की प्रासंगिकता' पर निरन्तर संवाद कर रहा है; इन संवादों में उभरकर आया है कि विकास के प्रतिमानों पर फिर से दृष्टि डालने की ज़रूरत है क्योंकि विकास के वर्तनाम प्रतिमान रोज़गार मुहैया कराने में विफल रहे हैं। ऐसे में, विकास के प्रति पारिस्थितिकी तन्त्र पर आधारित दृष्टिकोण और जीवन को सहारा देने वाली उपयुक्त व्यवस्थाओं के विकास में उसकी प्रासंगिकता पर नए सिरे से विचार किया जाना चाहिए।

वन अधिकार अधिनियम के क्रियान्वयन में विफलता को स्वीकार करने के बाद ही वन नीति का सही प्रारूप तैयार किया जा सकता है, जिसमें पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं के अनुरूप वन संरक्षण के साथ ही वन में निवास करने वाले एवं वन पर निर्भर समुदायों— जिनके जीवन को सहारा देने वाली प्रणालियाँ वनों के सतत् स्वास्थ्य और टिकाऊ रहने पर आधारित हैं— की चिन्ताओं का ठोस समाधान होगा। वन अधिकार अधिनियम 2006 के वादे और सम्भाव्यता पर कार्य हमें एक अच्छा शुरुआती बिन्दु प्रदान करता है। हम इसे आगे विकसित कैसे कर सकते हैं?

*(लेखक पारिस्थितिविज्ञानी हैं और इन्स्टीट्यूट ऑफ़ इकोलॉजी एण्ड लाइवलीहुड एक्शन के प्रमुख हैं)*